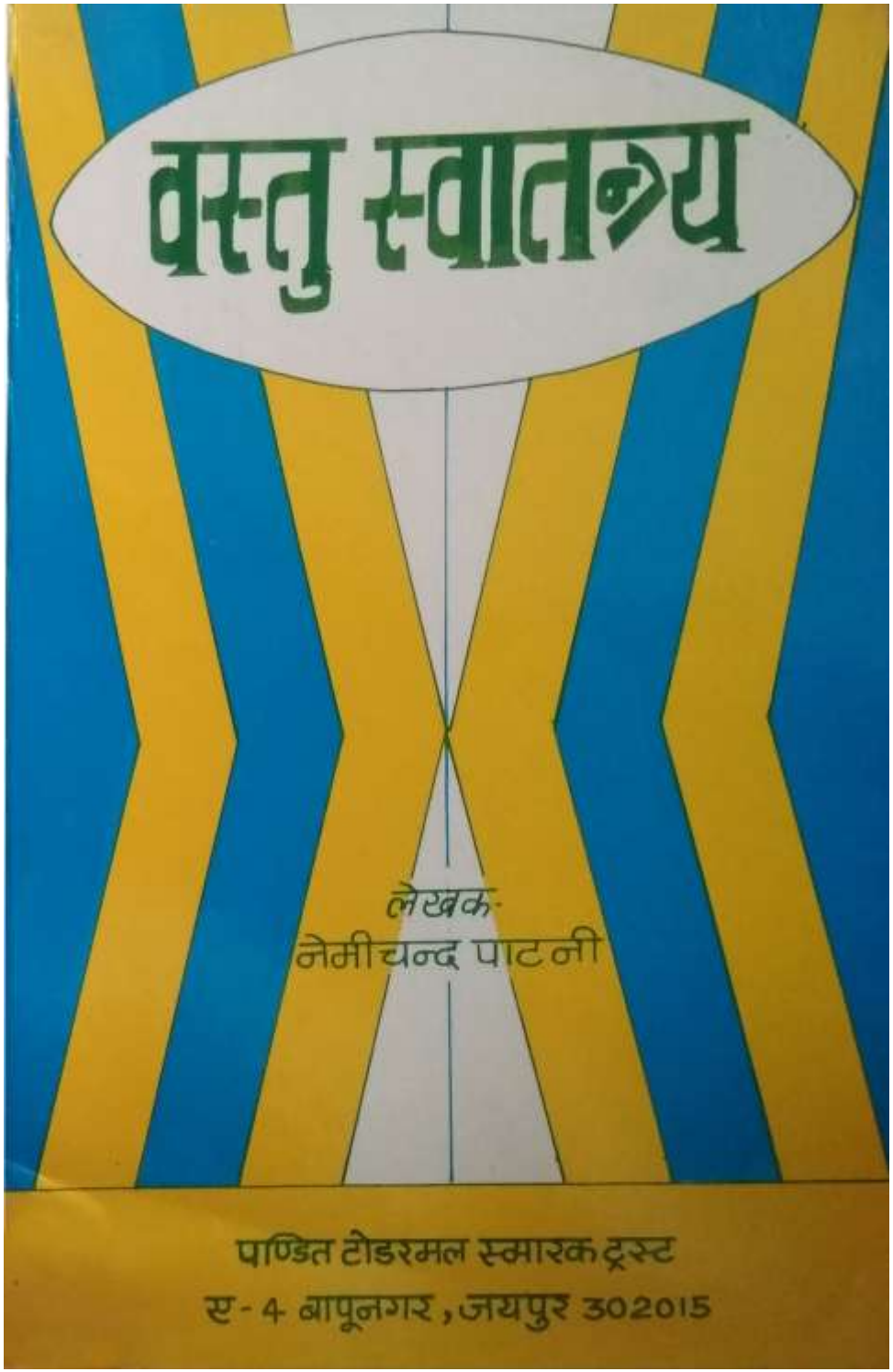

वस्तु स्वातंत्र्य

लेखक

नेमिचंद पाटनी

प्रकाशक

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए- 4 बापुनगर , जयपुर 302015

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तिका वस्तु स्वातन्त्र्य पूर्व पुस्तिका निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध क्या है का ही संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण है। पूर्व पुस्तिका श्री नेमीचन्द पाटनी द्वारा लिखी गई थी जिसका प्रथम संस्करण सन् 1948 में पाटनी दि.जैन ग्रन्थमाला मारोठ (मारवाड) से 4000 की संख्या में प्रकाशित हुआ था। पूज्य श्री कानजी स्वामी ने उक्त पुस्तिका को पढ़कर उसकी बहुत प्रशंसा की थी। समाज द्वारा भी पुस्तिका को अच्छा समादर मिला, परिणामत: क्रमश: 4 संस्करण 20 हजार की संख्या में मुद्रित किये गये।

इसके पश्चात् स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़ एवं पं. टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा भी इसका प्रकाशन किया गया जिनकी कुल संख्या लगभग 1 लाख से अधिक हो चुकी है। अब उक्त पुस्तिका अनेक वर्षों से अप्राप्य थी। ब्र. यशपाल जी अनेक बार पुस्तिका के प्रकाशन की मांग कर रहे थे अत: उनकी प्रेरणा से इसका पुन: संशोधित व परिवर्धित यह संस्करण प्रकाशित किया गया है। श्री पाटनी जी ने पुस्तिका के विषय को पुष्ट करने वाले अनेक तर्क व आगम का समावेश कर और अधिक उपयोगी बना दिया है आशा है पाठकों को पुन: अध्ययन की प्रेरणा मिलेगी।

आप सभी पुस्तिका का पुनरीक्षण कर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की यथार्थ जानकारी के साथ वस्तु स्वातंत्र्य के सिद्धान्त को समझकर भव का अभाव करें इसी भावना के साथ

ब्र. जतीशचन्द शास्त्री

मंत्री

वस्तुस्वातंत्र्य

विश्व व्यवस्था एवं उद्देश्य

छह द्रव्यों के समुदाय रूप यह लोक अर्थात् विश्व है। द्रव्य कहो अथवा वस्तु कहो दोनों एकार्थवाची हैं। जिसमें अनंत गुण बसते हैं, उसे वस्तु कहते हैं। ऐसी वस्तुएँ जाति अपेक्षा छह प्रकार की होते हुये भी संख्या में अनंत हैं। (१) जीव अनंत हैं और समस्त लोक में रहते हैं। (२) पुद्गल द्रव्य, जीव द्रव्यों से भी अनंतगुणे अनंत हैं, और वे भी समस्त लोक में ही रहते है। (३) धर्मद्रव्य अखंड एक होते हुये भी सम्पूर्ण विश्व व्यापक है। (४) इसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी अखंड एक होते हुये भी विश्व अर्थात् समस्त लोक व्यापी है। (५) कालद्रव्य खंड-खंडरूप एक प्रदेशी होते हुये भी समस्त लोक में फैले हुये असंख्याता हैं। (६) लेकिन आकाश द्रव्य अखंड-एक-अनंतप्रदेशी होने के कारण असंख्यातप्रदेशी-लोक अर्थात् विश्वव्यापी होते हुये भी लोक के बाहर भी अनंत आकाश में विस्तृत होकर अखंड एक है। इसप्रकार छहों द्रव्य सामूहिक रूप से जितने आकाश में निवास करते हैं अर्थात् रहते हैं, उसको ही लोक अर्थात् विश्व कहते हैं। लोक के बाहर तो मात्र अखंड एक आकाश ही है, अन्य पाँचों द्रव्यों का वहाँ अस्तित्व ही नहीं है।

उन छहों द्रव्यों में जाननेवाला तो एकमात्र जीव द्रव्य ही है अर्थात् जिसमें ज्ञान है - चेतना है, जानने की सामर्थ्य है, ऐसा तो मात्र एक जीवद्रव्य ही है, बाकी अन्य पाँचों ही द्रव्य अचेतन अर्थात् अजीवद्रव्य हैं, उनमें ज्ञान का अभाव होने से जानने की सामर्थ्य ही नहीं है। अत:

वे सुखी-दुखी भी कैसे हो सकते हैं ? ऐसा जीवद्रव्य स्वयं असंख्यप्रदेशी होने से, असंख्यप्रदेशी लोक में ही रहता है । और उस लोकाकाश में ही अन्य पाँचों द्रव्य भी रहते हैं, जिनसे इस जीव का संसार दशा में संबंध बनता है। अतः हमारा मुख्य प्रयोजन तो एकमात्र जीवद्रव्य की चर्चा करना है; क्योंकि अनादिकाल से यह जीव ही अकेला दुखी होता हुआ इस लोक में परिभ्रमण करता चला आ रहा है। इन दुःखों से मुक्ति प्राप्त कराने का उपाय ही सर्वोत्कृष्ट उपाय है। वह ही प्राप्त कराना है। इस ही उपाय को जिनवाणी में धर्म अर्थात् मुक्ति का मार्ग कहा है। समस्त जिनवाणी इस ही मार्ग का विवेचन करती है और वही वास्तव में धर्म कहा जाता है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के द्वितीय श्लोक में आचार्य समन्तभद्र ने ऐसे ही धर्म का स्वरूप बताने की प्रतिज्ञा की है–

देशयामि समीचीनं, धर्मं कर्मनिबर्हणं।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥ २ ॥

अर्थ– मैं उस समीचीन अर्थात् यथार्थ धर्म को कहूंगा, जो प्राणी मात्र को संसारदुःख से छुड़ाकर उत्तम (सर्वोत्कृष्ट) सुख को प्राप्त करानेवाला है।

उपर्युक्त धर्म प्राप्त करनेवाला (कर्त्ता) तो अकेला जीवद्रव्य ही है। अन्य पाँचों द्रव्य तो अधर्म करते ही नहीं। अतः उनको तो धर्म का उपदेश ही नहीं हो सकता। उनका अस्तित्व तो लोक में ही है इसलिये वे अपने आपका अस्तित्व तो बनाये ही रखते हैं, लेकिन दूसरे द्रव्यों के परिणमन में किंचित् मात्र भी हस्तक्षेप नहीं करते तथा अचेतन होने से हस्तक्षेप कर भी नहीं सकते, फिर भी इस जीव के ज्ञान में वे ज्ञात तो अवश्य होते ही हैं। उनके ज्ञात होते ही यह जीव झूठी कल्पना करके उनको अपने सुखी-दुखी होने का कारण मानकर , स्वयं ही दुःखी-सुखी होता रहता है जबकि उन द्रव्यों को तो ज्ञान ही नहीं होता

कि कोई जीव उनको कारण बनाकर दुखीसुखी हो रहा है, क्योंकि वे सब तो अजीव- अचेतन द्रव्य हैं। फिर भी उन पाँचों द्रव्यों को इस जीव के सुखी-दुखी होने में निमित्त कारण तो कहा ही जाता है। जिनवाणी में भी इसप्रकार के कारण को निमित्तकारण के नाम से कहा भी गया है। अतः वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक संबंध कहने का क्या अभिप्राय है, इसका आत्मार्थी के लिये सर्वप्रथम समझना अत्यन्त आवश्यक है। यह जीव, जो इसके सुखी-दुखी होने में किंचित् मात्र भी कारण नहीं है, अपनी गलत (मिथ्या) मान्यता के कारण, उन्हीं को कारण मानकर, अच्छे लगने वाले ज्ञेय अर्थात् पर ज्ञेयों को बनाये रखने की चेष्टा करता है, तथा बुरे लगने वाले परज्ञेयों को नष्ट करने अथवा दूर करने की चेष्टा करता है। जबकि इसप्रकार की मान्यता का अन्य पर द्रव्यों को तो कुछ पता ही नहीं होता। वे तो अपने कारण से अपनी स्वतन्त्रता से अपने कालक्रमानुसार अबाध गति से निरन्तर परिणमते ही रहते हैं। ये जीव व्यर्थ ही उनको दुख का अथवा सुख का कारण मानकर दुखी सुखी होता रहता है। इसप्रकार की मान्यता के फलस्वरूप यह जीव अपनी भूल यानी मिथ्या कल्पना को छोड़ने का प्रयास ही नहीं करता।

वस्तुस्वातंत्र्य का मूल आधार

पंचाध्यायी ग्रन्थ के प्रारंभिक श्लोक में वस्तु स्वातंत्र्य का मूल आधार निम्न प्रकार से दिया है–

तत्त्वंसल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वयं सिद्धं।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च ॥ ८॥

अर्थ– तत्त्व (पदार्थ/द्रव्य) सत् लक्षणवाला है, सत्मात्र है, स्वतःसिद्ध है, अनादिनिधन, स्वसहाय तथा निर्विकल्प है।

तत्त्वार्थ सूत्र अ. ५ में भी कहा है **"सत् द्रव्य लक्षणं"** अर्थात् वस्तु का लक्षण ही सत्पना है। सत् होने से ही अनादिनिधन व स्वसहाय एवं पराधीनतारहित, स्वतः सिद्ध है।

ऐसी सत्रूपवस्तु का अनादिअनंतपना किसप्रकार रहता है तो आचार्य उमास्वामी ने उपर्युक्त सूत्र के साथ ही कहा है– **"उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्"** अर्थात् वस्तु का सत्पना हरसमय सत्रूप से ध्रुव रहते हुये भी, एक ही समय में उत्पाद एवं व्यय करती हुई ही टिकती है अर्थात् एक ही समय में वस्तु स्वयं अपना अस्तित्व ध्रुवरूप बनाये रखते हुवे भी अपनी पूर्व अवस्था को छोड़ती हुई नवीन अवस्था को धारण करती हुई अनादि–अनन्त काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखती है। एक ही समय त्रिलक्षण युक्त उसका अस्तित्व बना रहता है अर्थात् हर समय वस्तु नित्यानित्यात्मकरूप से अपना अस्तित्व कायम रखती है।

प्रश्न होता है– वह वस्तु स्वयं कैसी है? उसके उत्तर स्वरूप आगे के सूत्र में कहा है– "गुणपर्ययवत् द्रव्यं" अर्थात् द्रव्य, गुण-पर्याय वाला होता है। वस्तु स्वयं अनंतगुणों अर्थात् अनंत स्वभावों/विशेषताओं (क्वालिटीज) वाली होती है। उन गुणों/स्वभावों का समुदाय ही वस्तु है अर्थात् अनंत प्रकार के स्वभाव उस वस्तु के स्वयं होते हैं। जब वह वस्तु स्वयं सत् है तो वे स्वभाव भी वस्तु रूप होने से ध्रुवरूप से सत् बने रहते हैं। अर्थात् कायम बने रहते हैं। साथ ही वह वस्तु उत्पाद-व्यय ध्रौव्यात्मक होने के कारण वे स्वभाव अर्थात् गुण भी निरंतर उत्पाद-व्यय करते हुये अपनी पूर्व पर्याय (अवस्था) को बदलते हुये नवीन अवस्थाओं को धारण करते हुये अनादि अनंत काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखते हुये टिके रहते हैं। अर्थात् विश्व को टिकाये रखते हैं। यही वस्तु स्वातंत्र्य का मूल आधार है। हर एक वस्तु अपनी स्वयं की सामर्थ्य से

अपने अनंत गुणों को धारण किये हुये, बिना किसी की अपेक्षा-सहायता-मदद प्राप्त करे, अपनी स्वयं की निरपेक्ष सामर्थ्य से अपनी पूर्व पर्याय को बदलती हुई, उत्तर पर्याय को प्राप्त करती हुई अनादि-अनंत कायम बनी रहती है। अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिये अपने स्वभावों को छोड़े बिना, अपनी पर्यायों को निरंतर बदलती रहती है। प्रवचनसार की गाथा नं. ९५ में कहा भी है–

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति॥ ९५॥

अन्वयार्थ– स्वभाव को छोड़े बिना जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है तथा गुणयुक्त और पर्यायसहित है, उसे द्रव्य कहते हैं।

टीका– यहाँ (इस विश्व में) जो, स्वभावभेद किये बिना, "उत्पाद- व्यय-ध्रौव्यत्रय से और गुणपर्यायद्वय से लक्षित होता है, वह द्रव्य है।"

इसप्रकार उपरोक्त आगम आधारों से भी यह स्पष्ट है कि वस्तु अपनी स्वतंत्रता के कारण स्वतन्त्रतापूर्वक अपनी विविध पर्यायों को हर समय बदलती हुई भी, अपने ध्रौव्य स्वभाव से अनादि अनंत काल तक अपना अस्तित्व बनाये रखती है, बनाये हुये है। किसी अन्य द्रव्य की कृपा से अथवा सहायता से नहीं, ऐसा वस्तु का स्वभाव है।

जीवद्रव्य भी एक वस्तु है

विश्व की उपर्युक्त कथित अनंतानन्त वस्तुओं में से ही जीव भी एक वस्तु है। जबकि विश्व की समस्त वस्तुएँ उपर्युक्त लक्षणों से लक्षित सत् द्रव्य लक्षणवाली, उत्पाद-व्यय-ध्रुवता युक्त, गुण-पर्यायवाली हैं, तो यह जीव द्रव्य भी स्वयं उपर्युक्त तीनों विशेषताओं सहित वर्तता हुआ ही अनादि –अनंत वर्तता रह सकता है। उसके भी परिणमन में

अथवा अस्तित्व में किसी अन्य की सहायता, मदद अथवा कृपा की अपेक्षा नहीं रह सकती। इसप्रकार यह जीवद्रव्य भी अपनी नवीन-नवीन पर्यायों को चाहे वे शुद्ध हों अथवा अशुद्ध, धारण करता हुआ स्वतंत्रतापूर्वक अनादि—अनंत काल तक प्रवर्तता रहता है। यह इस जीव वस्तु की स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन का परिचायक है। उपर्युक्त सिद्धान्तों का मूल आधार तो आगम है, अतः पूर्वाग्रहों को एक ओर रखकर, निष्पक्ष भाव से जिनवाणी का अध्ययन करना चाहिये।

जिनवाणी में प्रवेश करने की कुंजी

मोक्षार्थी जीव को सबसे पहले **"दृष्टिविष"** दूर करने की आवश्यकता है, इसके दूर हुये बिना शास्त्रों के कथन का यथार्थ बोध नहीं हो सकता। शास्त्रों में प्रकरणवश कहीं तो निश्चय की मुख्यता से कथन है, कहीं व्यवहार की मुख्यता से कथन किया गया है लेकिन सबका तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है। वस्तु की स्वतंत्रता समझने के लिए नयों का सामान्य ज्ञान तो अत्यन्त आवश्यक है। अध्यात्म में प्रवेश तो निश्चयनय-व्यवहारनय का यथार्थ ज्ञान हुये बिना संभव ही नहीं है।

श्री देवसेनाचार्य ने निश्चय एवं व्यवहार का लक्षण "आलाप पद्धति" में निम्नप्रकार बताया है—

अभेद अनुपचरितया वस्तु-निश्चीयत इति निश्चयः ।२०४।
भेदोपचरितया वस्तु व्यवह्रियत इति व्यवहारः ॥२०५॥

अर्थात् अभेद और अनुपचारपने से वस्तु का निश्चय करे वह तो निश्चय है तथा भेद और उपचार के द्वारा वस्तु का व्यवहार (लोक प्रवृत्ति) करावे उसका नाम व्यवहार है अर्थात् वस्तु का निश्चय स्वरूप तो अभेद अनुपचरित ही है लेकिन उसी स्वरूप को व्यवहार भेद करके अथवा अन्य में उसका उपचार करके समझाता है। अतः निश्चय स्वरूपी वस्तु को समझाने का ही व्यवहार का प्रयोजन है, व्यवहार का प्रयोजन

व्यवहार में अटकाने का नहीं होता। इसलिए साधक जीव, यथार्थ स्वरूप समझकर, धर्म की साधना के लिए, निश्चयनय के विषय को अपनी श्रद्धा का श्रद्धेय रखते हुए व्यवहार को गौण रखता है। अशुभ भाव के उपादेयपने का तो प्रश्न ही नहीं होता, वह तो हर परिस्थिति में हेय ही है, मात्र एक निज परमात्मस्वरूप का ही श्रद्धा में आदर वर्तता है। लेकिन जबतक लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर लेता, तबतक पुरुषार्थ की कमी के कारण श्रद्धा में हेयपना वर्तते हुये भी, अशुभ से बचने के लिए शुभभाव का आलंबन वर्तता ही है। श्रद्धा के अनुसार चारित्र में परिणमन नहीं हो रहा है। अतः श्रद्धा के अनुसार चारित्र में भी परिणमन कराने का जो प्रयत्न वर्तता है वही सच्चा पुरुषार्थ है और इसी को साधक दशा कही जाती है। अगर श्रद्धा में भी शुभरूप व्यवहार की उपादेयता वर्तने लगे तो विपरीत श्रद्धा जैसा ही चारित्र हो जाने से साधक दशा ही नहीं रहती। ऐसा होने पर भी उक्त व्यवहार को उपचार से साधन कह दिया जाता है।

आलापपद्धति में "उपचार" का लक्षण ऐसा कहा है—

"मुख्याभावेसति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते"

अर्थात् मुख्य के अभाव में प्रयोजन एवं निमित्त के लिए उपचार प्रवर्तता है।"

अतः वास्तव में व्यवहार भाव निश्चयस्वरूप का साधक नहीं होते हुये भी उसमें निश्चय का उपचार करके उसको साधक कहने की जिनवाणी में पद्धति है। अशुभ को तो उपचार भी नहीं आता।

उपर्युक्त कथन के अभिप्राय को ध्यान में रखते हुये प्रत्येक शास्त्र का अर्थ समझना चाहिए। मोक्षमार्गप्रकाशक में भी आचार्यकल्प

पण्डित टोडरमलजी साहब ने सातवें अधिकार के पृष्ठ २५१ पर ऐसा ही कहा है।

"जिनमार्ग विषैं तो निश्चयनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौ तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है, ऐसा जानना, बहुरि कहीं व्यवहारनय की मुख्यता लिए व्याख्यान है ताकौ 'ऐसैं हैं नाहीं, निमित्तादिक अपेक्षा उपचार किया है' ऐसा जानना। इसप्रकार जानने का नाम ही दोऊ नयनि का ग्रहण है। बहुरि दोऊ नयनि के व्याख्यान को समान सत्यार्थ जानि ऐसे भी है, ऐसे भी हैं, ऐसा भ्रमरूप प्रवर्तन करे तो दोऊ नयनि का ग्रहण करना कहा है नांही।"

इसप्रकार निश्चय–व्यवहार की कथन शैली को यथार्थ समझ कर निम्नश्रद्धा के साथ शास्त्रों का अध्ययन करना चाहिए।

(१) **"यथार्थ मार्ग मात्र एक वीतराग प्रणीत जिनवाणी द्वारा ही प्राप्त हो सकता है"** और कोई मत, दर्शन एवं धर्म में आत्मा का धर्म नहीं मिल सकता।

(२) **"एक द्रव्य दूसरे द्रव्य में अथवा उसकी किसी भी पर्याय में किसी प्रकार से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकता।"** अतः पुद्गलकर्म आत्मा की किसी दशा में कुछ भी नहीं कर सकते, आत्मा विकार करे तो कर्मों के उदय पर निमित्तपने का उपचार आता है; क्योंकि एक द्रव्य की पर्याय में दूसरे द्रव्य की पर्याय का अत्यन्ताभाव है।

(३) **आत्मा की यथार्थ समझ हुये बिना मिथ्यात्व का नाश कभी नहीं हो सकता और मिथ्यात्व टले बिना राग-द्वेष का आंशिक भी अभाव नहीं हो सकता। सब पापों में महापाप मिथ्यात्व ही है** अतः सबसे पहले मिथ्यात्व का अभाव करने के लिए आत्मा को समझना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) आत्मा को समझने के लिए सर्वप्रथम छहों द्रव्यों के समुदायरूप विश्व की व्यवस्था तथा उसमें जीव के यथार्थ स्वरूप एवं विकारी रूप आदि को और उसके अभाव करने के उपायों को समझना चाहिए।

विश्व की व्यवस्था

आत्मा अर्थात् जीव एक द्रव्य (वस्तु) है, उसी प्रकार पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी ५ वस्तुएँ अर्थात् द्रव्य हैं, प्रत्येक द्रव्य में अनन्त शक्तियाँ (गुण) हैं, प्रत्येक शक्ति की अवस्था समय-समय पर स्वतः बदलती रहती है। इन छहों द्रव्यों (वस्तुओं) के समुदाय का नाम ही लोक अर्थात् विश्व है। वस्तु अनादि–अनंत अविनाशी है, इसलिए लोक भी अनादि–अनन्त अविनाशी है। द्रव्य स्वतः अपनी अवस्थाओं को पलटते-पलटते अनादि-अनन्त बना रहता है, इसलिए विश्व भी अपनी नई-नई हालतों में बदलते हुए अनादि– अनन्त कायम रहता है। जबकि द्रव्य किसी का बनाया हुआ नहीं है, अतः इस विश्व का भी कोई बनानेवाला नहीं हो सकता।

सत्तापना वस्तु का लक्षण

सत्तापना अर्थात् अस्तित्वपना ही द्रव्य (वस्तु) का लक्षण है। तत्त्वार्थसूत्र में कहा है– "सत् द्रव्यलक्षणं"। अपनी अवस्थाओं को पलटते-पलटते ही द्रव्य (वस्तु) अनादि–अनन्त कायम रह सकता है। इसकी सिद्धि के लिए आचार्य ने "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" कहा है अर्थात् द्रव्य (वस्तु) प्रत्येक समय अपनी सत्ता कायम (टिकाये) रखते हुये, भी अपनी पूर्व अवस्था (पर्याय) का व्यय करके नवीन अवस्था (पर्याय) को प्राप्त करता रहता है।

आचार्यों ने "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्" के द्वारा यह समझाया है कि गुण (शक्ति) और पर्याय (अवस्था) सहित ही वस्तु होती है अर्थात् शक्ति और अवस्थाओं के बिना वस्तु का अस्तित्व ही नहीं हो सकता।

पर्याय भी निश्चय से स्वयं सत् अहेतुक है

उपरोक्त प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि संसार में प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों (शक्तियों) को धारण करती है और प्रत्येक शक्ति, समय-समय पर अपनी अवस्थाओं को पलटती-पलटती अनादि—अनन्त वस्तु को कायम रखती है। कोई समय भी ऐसा नहीं हो सकता कि द्रव्य पलटे बिना रह जावे अथवा द्रव्य के बिना पर्याय ही पलटती रहे, साथ ही एक द्रव्य, एक समय में दो पर्यायों रूप कभी भी नहीं हो सकता तथा दो द्रव्य मिलकर भी कभी एक पर्याय को उत्पन्न नहीं कर सकते। इतना होने पर भी द्रव्य और पर्याय दोनों अभिन्न हैं, कभी भी अलग नहीं हो सकते, इसलिये दोनों मिलकर पूरा द्रव्य, वह सत् है।

द्रव्य और पर्याय दोनों अभिन्न रहते हुये भी स्वभाव दोनों के भिन्न-भिन्न है। द्रव्य तो स्थायी रहनेवाला नित्यस्वभावी है तथा पर्याय क्षण-क्षण में बदलती हुई अनित्यस्वभावी है, दोनों भिन्न-भिन्न स्वभावी होते हुए भी, दोनों मिलकर एक सत् है। द्रव्य तो त्रिकाली सत् है और पर्याय एक समय का सत् है, सत् का कभी भी नाश नहीं हो सकता एवं असत् की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती, अतः प्रत्येक समय उत्पन्न होनेवाली पर्याय स्वयं सत् है।सत् का लक्षण पंचाध्यायी के श्लोक ८ में कहा है—

तत्त्वं सल्लाक्षणिकं सन्मात्रं वा यतः स्वतःसिद्धम्।
तस्मादनादिनिधनं स्वसहायं निर्विकल्पं च॥८॥

अर्थ– तत्त्व का लक्षण सत् है या सन्मात्र ही तत्त्व है और जिस कारण से वह स्वतः सिद्ध है, इसलिये वह विनाशरहित अनादि है, अनिधन है, स्वसहाय है और निर्विकल्प अर्थात् अखण्ड है॥ ९॥

इसप्रकार सत् का लक्षण ही पर से निरपेक्ष होते हुये भी अपने आप से स्वतः सिद्ध है। इसलिये प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय परनिरपेक्ष रहते हुये भी स्वयं सत् अहेतुक ही होती है और अपनी पर्यायगत योग्यता के अनुसार ही होती रहती है। अपने परिणमन के लिये किसी परद्रव्य की बाट भी नहीं देखनी पड़ती तथा किसी को जुटाना भी नहीं पड़ता। लेकिन अन्य वस्तु जो निमित्त के नाम से कही जाती है वह, उस परिणमन के समय, अपनी स्वयं की उपादानगत योग्यता से अपने आप में, उस कार्य के अनुकूल परिणमती हुई, उस कार्यरूपी पर्याय में कुछ भी नहीं करती। जयसेनाचार्यकृत प्रवचनसार की गाथा १६९ में भी कहा है—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१६९॥

भावार्थ– जो जीव, अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयसहित और क्षुधा (भूख) आदि अठारह दोषों से रहित जिनेन्द्र भगवन्तों को जानता है; ज्ञानावरणादि आठ कर्मों रहित और सम्यक्त्व आदि आठ गुणों में गर्भित अनन्त गुणों सहित, सिद्धों तथा आगम में कहे गये निश्चय- व्यवहार पंचाचार आदि लक्षणवाले आचार्य, उपाध्याय, साधुओं का श्रद्धान करता है तथा त्रस और स्थावर जीवों में अनुकम्पा-दया परिणामों से सहित है; उस जीव का वह उपयोग शुभोपयोग है॥१६९॥

इसलिए वस्तु की जिस समय जिस शक्ति की जो अवस्था जैसी होनेवाली है, उस समय वह अवस्था वैसी ही होवेगी, एक समय भी आगे पीछे नहीं हो सकती और उसकी जगह कोई अन्य अवस्था

भी नहीं हो सकती तथा उस अवस्था को कोई रोकना चाहे तो रुक भी नहीं सकती व अन्यरूप भी नहीं हो सकती। वह वस्तु अपने परिणमन में दूसरी वस्तु का, दूसरी शक्ति का अथवा दूसरी पर्याय का आधार अथवा अपेक्षा भी नहीं रखती। इस ही प्रकार जो अवस्था नहीं होनेवाली है वह हो भी नहीं सकती, कारण असत् की उत्पत्ति भी संभव नहीं है। इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य एवं उसकी पर्याय की स्वतंत्रता स्पष्टतया सिद्ध होती है।

प्रत्येक द्रव्य स्वचतुष्टय से अस्ति एवं परचतुष्टय से नास्ति स्वरूप ही है

प्रत्येक द्रव्य की स्वचतुष्टय में अस्ति है और परचतुष्टय में नास्ति है— इसी का नाम "अनेकान्त" और इस कथन शैली का नाम ही "स्याद्वाद" है। आत्मा कभी स्वचतुष्टय में रहती हुई अपना कार्य करती है और कभी परचतुष्टय में प्रवेश कर, पर में भी कुछ करती है इसप्रकार परद्रव्य भी मेरे परिणमन को प्रभावित कर देता है। ऐसा मानना अनेकांत तथा स्याद्वाद नहीं है, यह तो अत्यंत विपरीतता है।

आत्मा का स्वद्रव्य = आत्मवस्तु, स्वक्षेत्र = आत्मा के असंख्य-प्रदेश, स्वकाल = आत्मा के अनन्त गुणों का वर्तमान समय-समय में होनेवाला परिणमन अर्थात् पर्यायें, स्वभाव = आत्मा की ज्ञान–दर्शन, सुख–वीर्यादि अनंत स्वाभाविक शक्तियाँ हैं। आत्मा की अपेक्षा से कर्म तथा नोकर्मादि सभी परद्रव्य हैं। उन परद्रव्यों रूपी पुद्गलों के प्रदेश तो उनका स्वक्षेत्र है, आत्मा के लिए वह परक्षेत्र है। पुद्गल के स्वगुणों की समय-समय वर्तनेवाली पर्यायें उसका स्वकाल है, आत्मा के लिए वह परकाल है तथा पुद्गल की स्पर्श–रस–गंधादि अनंत स्वाभाविक शक्तियाँ पुद्गल के स्वभाव हैं वह आत्मा के लिए परभाव हैं। इसप्रकार आत्मद्रव्य की स्वचतुष्टय में अस्ति है, लेकिन परचतुष्टय में त्रिकाल नास्ति

है। आत्मद्रव्य कर्मरूपी पुद्गलों के साथ व्याप्य - व्यापक रूप से मिल नहीं सकता, एकमेक हो नहीं सकता। अतः आत्मा के विकार को कर्म उत्पन्न नहीं कर सकता, आत्मा स्वयं अज्ञान के कारण विकार का कर्त्ता होता है।

समयसार के परिशिष्ट के प्रारम्भ में अनेकान्त का लक्षण इस प्रकार है–

यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येक वस्तुवस्तुत्वनिष्पादकं परस्परविरुद्ध शक्तिद्वयप्रकाशनमनेकांतः। *–अमृतचन्द्राचार्यः आत्म ख्याति पृष्ठ–६४८*

आचार्य जयसेन अनेकांत का स्वरूप प्रश्नोत्तर शैली में इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

अनेकान्त इति कोऽर्थः इति चेत्।

एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादने स्यादनेकांतो भण्यते। *– तात्पर्य वृति, पृष्ठ–५४५*

इसप्रकार से सब द्रव्य अपने स्वचतुष्टय में ही अनादि–अनन्त परिणमन करते रहते हैं और अपने परिणमन के लिए किसी को कोई दूसरे की सहायता आदि की जरूरत नहीं पड़ती तथा किसी क्षेत्र काल संयोग की बाट भी नहीं देखनी पड़ती, सबका अपनी-अपनी स्वतंत्रता से परिणमन होता ही रहता है।

सर्वज्ञपना क्या है ?

सच्चे देव का लक्षण सर्वज्ञ और वीतरागपना है। सर्वज्ञ उसे कहते हैं कि जो अपने स्वभाव में रहते हुये विश्व के समस्त द्रव्यों अर्थात् वस्तुओं की, जिस-जिस समय, जिस-जिस क्षेत्र में, जिस–प्रकार

स , जो-जो अवस्था होनेवाली है , हो रही है अथवा हो चुकी है उन सबको पूर्णरूप से जैसी की तैसी युगपत् प्रत्यक्ष जाने । वीतरागी का ज्ञान पूर्ण हो चुका है, इसलिए वे किंचित् भी न्यून नहीं जानते तथा वस्तु मे जो होनेवाला है वह सब जान लिया, अत: अधिक जानने को कुछ रह नहीं जाता। इसलिए सारांश यह हुआ कि "जिस वस्तु की जैसी अवस्था जिस समय होनेवाली है, वैसी ही सर्वज्ञ के ज्ञान में आई है , और वैसी ही होवेगी ।"

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी कहा है कि –

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कई वारेदुं इन्दो वा अहजिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

भावार्थ– जो जिस जीव के जिस देशविषैं, जिस कालविषैं, जिस विधान करि जन्म तथा मरण उपलक्षण तैं दु:ख–सुख, रोग, दारिद्र आदि सर्वज्ञदेव ने जाण्या है, जो ऐसे ही नियम करि होयगा, सो ही तिस प्राणी के तिसही देश में, तिस ही काल में, तिसही विधान करि नियम तैं होय है; ताकू इन्द्र तथा जिनेन्द्र तीर्थंकर देव कोई भी निवारि नाहीं सकै है।

आत्मावलोकन पत्र ३० में भी ऐसा ही कहा है।

ऐसी श्रद्धा से ही वस्तु का स्वभाव का तथा सर्वज्ञ का यथार्थ निर्णय होता है और "परद्रव्य का मैं कुछ भी नहीं कर सकता" ऐसी अकर्तृत्वपने की भावना जागृत होकर अपने ज्ञायक स्वभाव के ओर की रुचि जागृत हो जाती है। यदि इससे विपरीत परद्रव्य में कर्तृत्वपने की रुचि का पोषण करे तो उसको सर्वज्ञ और वस्तुस्वभाव की प्रतीति

नहीं हुई , प्रत्युत विपरीत अभिप्राय के कारण इसी को स्वच्छन्दता के पोषण का माध्यम बना लेता है।

पुरुषार्थ क्या है ?

उपरोक्त कथन के अनुसार तो आत्मा की प्रत्येक पर्याय सत् अहेतुक है; लेकिन पर्याय में तो विकार भी है और स्व में पर की नास्ति है, तो विकार का अभाव कैसे होगा और कौन करेगा ? साथ ही सर्वज्ञ के ज्ञान के अनुसार सभी परिणमन निश्चित हैं– क्रमबद्ध हो ही रहे हैं, तब आत्मा के पुरुषार्थ करने का तो अभाव ही हो जावेगा ? इससे तो स्वच्छन्दता विकसित होगी ?

समाधान – ऐसा बिल्कुल भी नहीं है। प्रत्येक कार्य की सम्पन्नता में पाँच कारण अर्थात् पाँच समवाय मिलते ही मिलते हैं , किसी अकेले एक कारण से ही कार्य का सम्पादन नहीं होता; लेकिन कथन तो किसी एक कारण की मुख्यता से करना पड़ता है। अत: समझनेवाले को यह समझना चाहिए कि किसी एक कारण से ही कार्य की सम्पन्नता कहना, कथन मात्र ही है; लेकिन कार्य की सम्पन्नता के समय तो पाँचों ही समवाय एकसाथ थे। इस विषय की चर्चा "सुखी होने का उपाय" पुस्तक के भाग-१ के पृष्ठ ९६ से १०३ तक में की गई है, वह निम्न प्रकार है–

कार्य की सम्पन्नता में पुरुषार्थ का स्थान

"उपरोक्त कथन से तो ऐसा लगता है कि जब सभी कार्य अपने- अपने समय पर स्वतंत्रतया अपने कारण से होते ही रहते हैं, कोई उनमें व्यवधान भी नहीं कर सकता तथा साधक भी नहीं हो सकता, तब तो पुरुषार्थ की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इससे तो नियतवाद का पोषण होगा ? जो कि सर्वथा विपरीत है।

समाधान इसप्रकार है कि प्रत्येक द्रव्य का किसी भी समय जो भी कार्य सम्पन्न होता है तो उसमें अनेक कारण मिलते ही हैं। (मिलाने नहीं पड़ते) मोक्षमार्ग प्रकाशक के नवमें अधिकार में कहा है कि **"एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं।"** अतः कार्य की सम्पन्नता के समय पुरुषार्थ के अतिरिक्त अन्य भी कई कारण रहते ही हैं; लेकिन कथन किसी एक कारण की मुख्यता से ही हो पाता है, उससे ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि कार्य होने के समय बाकी के अन्य कारणों का सद्भाव ही नहीं रहता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि अन्य कारणों को मिलाना भी नहीं पड़ता, जब-जब भी कार्य की सम्पन्नता होती है सभी कारण स्वतः ही बिना मिलाये (इकट्ठा किये) मिलते ही मिलते हैं। कार्य की सम्पन्नता किसी कारण के नहीं मिलाने के कारण कभी रुक जावे, ऐसा भी नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि विश्व के प्रत्येक द्रव्य का कोई न कोई कार्य तो प्रति समय होता ही रहता है, उस समय सभी अन्य द्रव्य भी अपने-अपने परिणमन से परिणमते हुए स्वतः रहते ही हैं। अतः प्रत्येक द्रव्य के प्रत्येक कार्य में आपस में एक दूसरे के ऊपर निमित्त कारणपने का उपचार आता ही है। इस कारण ही जब-जब भी कार्य सम्पन्नता के कारणों का विवेचन किया जाता है किसी एक कारण की मुख्यता से ही करना पड़ता है, उस समय अन्य कारणों को गौण रखना ही पड़ेगा। इसप्रकार वस्तु के कार्य की सम्पन्नता में, सभी द्रव्यों की स्वतंत्रतासम्पन्न कारण-कार्य व्यवस्था है।

पाँच समवाय व कार्य की सम्पन्नता

अब समझना यह है कि वे कारण कौन-कौन से हैं? इस संबंध में स्व. पण्डित फूलचंदजी सिद्धान्त शास्त्री ने "जैनतत्त्व मीमांसा" पुस्तक के द्वितीय संस्करण के पृष्ठ १३२ पर इसप्रकार बताया है–

पाँच हेतुओं का समवाय

"साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति में पाँच कारण नियम से होते हैं। स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म। यहाँ पर स्वभाव से द्रव्य की स्वशक्ति या नित्य उपादान लिया गया है। काल से स्वकाल और परकाल का ग्रहण किया है। पुरुषार्थ से जीव का बल-वीर्य लिया गया है, नियति से समर्थ उपादान या निश्चय की मुख्यता दिखलाई गई है और कर्म से बाह्यनिमित्त का ग्रहण किया गया है। इन्हीं पाँच कारणों को सूचित करते हुए पंडित प्रवर बनारसीदासजी नाटक समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में कहते हैं–

पद सुभाव पूरवउदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ, सरवंगी शिवचाल॥ ४२॥

गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गाथा ८७७ से ८८३ तक) में पाँच प्रकार के एकान्तवादियों का कथन आता है। उसका आशय इतना ही है कि जो इनमें से किसी एक से कार्य की उत्पत्ति मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्य की उत्पत्ति में इन पाँच समवायों को स्वीकार करता है, वह सम्यग्दृष्टि है। अष्टसहस्री पृष्ठ २५७ में भट्टाकलंकदेव ने एक श्लोक दिया है, उसका भी यही आशय है। मूल श्लोक इसप्रकार है–

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता॥

अर्थ– जिस जीव की जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है, उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसीप्रकार करने लगता है और उसे सहायक भी उसी के अनुसार मिल जाते हैं।

अष्टसहस्री का उपरोक्त कथन भवितव्यता की मुख्यता से किया गया है, लेकिन साथ ही उसमें बाकी सभी समवायों का तत्समय होना

भी स्वीकार किया गया है। इसप्रकार किसी भी एक समवाय की मुख्यतापूर्वक, अन्य समवायों को गौणपने रखते हुए कथन किया जाता है, वह सम्यक् है, इसके विपरीत अन्य समवायों के बिना, मात्र एक ही समवाय से कार्य की उत्पत्ति माने, वह मिथ्या है। ऐसी मिथ्या मान्यता वाले को गोम्मटसार कर्मकाण्ड में एकान्ती मिथ्यादृष्टि कहा है।

उपरोक्त पाँचों समवायों का स्व और पर के रूप में वर्गीकरण करें तो स्वभाव, काललब्धि, होनहार एवं पुरुषार्थ ये चारों तो जीव में ही होते हैं, अतः यहाँ ये स्व के कहे जावेंगे। मात्र एक निमित्त समवाय ही पर रूप रहेगा। इसी वर्गीकरण को जिनवाणी में स्व को अन्तरंग (अभ्यंतर) कारण कहा है और पर को बहिरंग (बाह्य) कारण कहा है। इसप्रकार जिनवाणी में एक ही वाक्य के अनेक अपेक्षाओं से, अनेक प्रकार से कथन करने के लिये उपयोग किया जाता है; लेकिन वस्तुस्वातंत्र्य के सिद्धान्त के द्वारा सबका तात्पर्य समझकर आत्मा में वीतरागता प्रगट करना चाहिये।

आचार्यश्री समंतभद्र स्वामी ने स्वयंभू स्तोत्र में वासुपूज्य भगवान की स्तुति के श्लोक में कहा है कि –

बाह्योतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्॥ ५॥

अर्थ– कार्यों में यह बाह्य और अभ्यंतर दोनों कारणों की समग्रता, हे भगवान आपके मत में द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा पुरुष को मोक्ष की विधि भी नहीं बनती। इसलिए ऋद्धियों से युक्त आप बुधजनों से वन्दनीय हैं।

उपरोक्त श्लोक द्वारा भी यही सिद्ध किया है कि स्व और पर दोनों कारणों की समग्रता से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। उसमें पाँच

प्रकार की स्थितियाँ सहज रूप से बनती ही बनती हैं, बनानी नहीं पड़ती, मिलानी नहीं पड़ती, वस्तु की स्थिति ही ऐसी है कि पाँचों स्थितियों का समवायीकरण निश्चितरूप से होता ही होता है। उन पाँच समवायों में से एक पुरुषार्थ नाम का भी समवाय है। अतः यह प्रश्न ही निराधार हो जाता है कि "कार्य की सम्पन्नता में पुरुषार्थ का कोई स्थान नहीं रहता।"

मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ की मुख्यता

अब प्रश्न खड़ा होता है कि अगर कार्य की सम्पन्नता में पाँचों समवाय स्वतः मिलते ही मिलते हैं। तब तो इन पाँचों में पुरुषार्थ समवाय भी शामिल ही है। अतः हमको पुरुषार्थ करने का अवकाश ही कहाँ रह जाता है? नियतवाद का प्रसंग ही रहता है।

इसका समाधान पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के नवमें अधिकार के पुरुषार्थ वाले प्रकरण में पृष्ठ ३०९ पर नीचे माफिक दिया है।

"यहाँ प्रश्न है कि मोक्ष का उपाय काललब्धि आने पर भवितव्यता अनुसार बनता है या मोहादिक के उपशमादि होने पर बनता है या अपने पुरुषार्थ के उद्यम करने पर बनता है सो कहो। यदि प्रथम दोनों, कारणों के मिलने पर बनता है तो हमें उपदेश किसलिये देते हो? और पुरुषार्थ से बनता है तो उपदेश सब सुनते हैं, उनमें कोई उपाय कर सकता है, कोई नहीं कर सकता, सो कारण क्या?

समाधान– एक कार्य होने में अनेक कारण मिलते हैं; सो मोक्ष का उपाय बनता है, वहाँ तो पूर्वोक्त तीनों ही कारण मिलते हैं और नहीं बनता, वहाँ तीनों ही कारण नहीं मिलते। पूर्वोक्त तीनों

कारण कहे उनमें काललब्धि व होनहार तो कोई वस्तु ही नहीं है, जिस काल में कार्य बनता है वही काललब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार। तथा जो कर्म के उपशमादि हैं वह पुद्गल की शक्ति है, उसका आत्मा कर्त्ता-हर्त्ता नहीं है। तथा पुरुषार्थ से उद्यम करते हैं, सो यह आत्मा का कार्य है, इसलिये आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।"

इसके आगे फिर कहते हैं कि "इसलिये जो पुरुषार्थ से मोक्ष का उपाय करता है, उसको सर्वकारण मिलते हैं और उसको अवश्य मोक्ष की प्राप्ति होती है– ऐसा निश्चय करना।"

इसप्रकार उपरोक्त कथन से निश्चित होता है कि उपरोक्त पाँचों समवायों की एकसाथ स्वतः समग्रता कार्य की सम्पन्नता के साथ होती ही है, लेकिन इन पाँचों में से जीव तो बुद्धिपूर्वक एकमात्र पुरुषार्थ ही कर सकता है, बांकी के चारों समवायों के संबंध में यह जीव कुछ भी नहीं कर सकता, वे तो अपने आप ही स्वयं कार्य की सम्पन्नता के समय मिलेंगे ही मिलेंगे। अतः पाँच समवायों का सिद्धान्त समझनेवाले को निःशंकतया एकमात्र पुरुषार्थ ही कर्त्तव्य है, नियतवाद को कोई अवकाश ही नहीं रह सकता।

कर्मोदय में आत्मा का पुरुषार्थ अकार्यकारी कहनेवाले कथनों का अभिप्राय

जिनवाणी में ऐसा कथन आता है कि जैसे-जैसे कर्म का उदय आता है, वैसे-वैसे आत्मा के भाव होते हैं। ऐसे कथनों के द्वारा ऐसी शंका खड़ी हो जाना स्वाभाविक है कि कर्म का उदय जब अनुकूल होगा तभी आत्मा पुरुषार्थ कर सकेगा? अतः पुरुषार्थ करने का उपदेश निरर्थक दिखने लगता है? लेकिन इस कथन का तात्पर्य ऐसा नहीं है, यह कथन तो मात्र निमित्त की मुख्यता से किया गया है। कर्म भी तो

एक निमित्त ही है। पाँच समवायों में एक निमित्त समवाय भी है, अतः कथन मात्र उसकी मुख्यता से किया गया है। इसका तात्पर्य ऐसा नहीं है कि कार्य की सम्पन्नता के समय अकेला निमित्त ही था, चारों समवायों का अभाव था। यह कथन तो मात्र एक निमित्त समवाय की मुख्यतापूर्वक अन्य समवायों को गौण रखते हुए किया गया है, क्योंकि कथन तो पाँच समवायों में से किसी एक की मुख्यता से ही हो सकता है, अन्य कोई उपाय है ही नहीं। इसप्रकार के कथनों को समझने के समय, अपनी मान्यता स्पष्ट होनी चाहिए कि कार्य की सम्पन्नता तो पाँचों की समग्रता में ही हुई है, एक की मुख्यता से मात्र कथन ही किया गया है।

काललब्धि के अभाव में पुरुषार्थ अकार्यकारी बताने वाले कथनों का अभिप्राय

इसीप्रकार जिनवाणी में काललब्धि की मुख्यता से भी कथन आते हैं तथा भवितव्यता, योग्यता, नियति, होनहार, क्रमबद्ध आदि की मुख्यता से भी कथन आते हैं:– इन कथनों को भी उपरोक्त सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुये ही समझना चाहिए। आचार्यश्री समन्तभद्रस्वामी ने स्वयंभू- स्तोत्र में सुपार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के श्लोक नं. ३ में भवितव्यता की मुख्यता से कहा भी है कि–

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाऽऽविष्कृत-कार्य-लिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्योष्विति साध्ववादीः॥ ३॥

अर्थ– हेतुद्वय के द्वारा उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका लिंग है– ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। अहंकार से पीड़ित कार्यों के सम्पन्न करने में समर्थ नहीं है। यह आपने ठीक ही कहा है अर्थात् जैसी वस्तु स्थिति है वैसा कहा है॥ ३॥

इसप्रकार जिनवाणी का कोई भी कथन एकान्त एवं पराधीनता पोषक तथा पुरुषार्थ का घातक नहीं हो सकता, सर्व कथनों का तात्पर्य तो, मात्र एक वीतरागता का उत्पादन ही होता है।

आचार्य अमृतचंद्र देव ने पंचास्तिकाय संग्रह की गाथा १७२ की टीका में कहा है कि सभी शास्त्रों का तात्पर्य तो एकमात्र वीतरागता ही है।

"अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्षमार्गसारत्वेन शास्त्र तात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति।"

अर्थ– विस्तार से बस हो। जयवंत वर्तें वीतरागता जो कि साक्षात् मोक्षमार्ग का सार होने से शास्त्रतात्पर्यभूत है।

इस प्रकार कार्य सम्पन्नता में स्वतंत्रतापूर्वक पाँचों समवायों की समग्रता स्वीकार करते हुए भी आत्मा को करने योग्य तो एक मात्र पुरुषार्थ ही है, ऐसा मानकर मोक्षमार्ग प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।

शास्त्र में आता है, कर्म उदय आने पर विकार होता ही है?

गोम्मटसार ग्रंथ में आता है कि "कर्म का उदय जब जैसा आता है तब आत्मा को वैसा ही विकार होता है, अन्य प्रकार का नहीं होता।"– आदि-आदि कथनों से तो ऐसा लगता है कि कर्म का उदय ही आत्मा में विकार उत्पन्न कराता है? अतः आपके द्वारा बताया गया स्वतंत्र परिणमन का सिद्धान्त उक्त आगम कथन से मेल नहीं खाता?

नाटक समयसार के सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में पं. बनारसीदासजी ने उक्त प्रश्न का समाधान निम्नप्रकार दिया है –

"कोऊ शिष्य कहै स्वामी रागदोष परिनाम,
ताकौ मूल प्रेरक कहहु तुम कौन है?
पुद्गल करम जोग किधौं इन्द्रिन कौ भोग,
किधौं धन किधौं परिजन किधौं भौन है।
गुरु कहै छहौं दर्व अपने अपने रूप,
सबनि कौ सदा असहाई परिनौन है।
कोऊ दरव काहू को न प्रेरक कदापि तातैं,
रागदोष मोह मृषा मदिरा अचौन है॥" ॥ ६१ ॥

फिर कहते हैं कि –

कोऊ मूरख यों कहे रागदोष परिनाम,
पुग्गल की जोरावरी बरतै आतमराम॥ ६२ ॥
ज्यों-ज्यों पुग्गल बल करै, धरि-धरि कर्म जु भेष,
रागदोष को परिनमन त्यों त्यों होई विशेष॥ ६३ ॥
इह विधि जो विपरीत पख गहै सहहै कोई,
सो नर राग विरोध सौं कबहुँ भिन्न न होई॥ ६४ ॥
सुगुरु कहै जग में रहे, पुद्गल संग सदीव,
सहज शुद्ध परिनमन का, औसर लहै न जीव॥ ६५ ॥
तातैं चिद्भावनि विषैं, समरथ चेतनराव,
रागविरोध मिथ्यात में, समकित में सिवभाव॥ ६६ ॥

पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक पृष्ठ ३११ पर भी उपरोक्त विवेचन का ही समर्थन निम्नप्रकार किया है–

"यहाँ प्रश्न है कि द्रव्यकर्म के उदय से भावकर्म होता है, भावकर्म से द्रव्यकर्म का बन्ध होता है, तथा फिर उसके उदय से

भावकर्म होता है– इसी प्रकार अनादि से परम्परा है, तब मोक्ष का उपाय कैसे हो?

समाधान– कर्म का बन्ध उदय सदाकाल समान ही होता रहे तब तो ऐसा ही है, परन्तु परिणामों के निमित्त से पूर्वबद्ध कर्म के भी उत्कर्षण- अपकर्षण-संक्रमणादि होने से उनकी शक्ति हीनाधिक होती है, इसलिए उनका उदय भी मंद-तीव्र होता है।

और तत्त्वनिर्णय न करने में किसी कर्म का दोष है नहीं, तेरा ही दोष है, परन्तु तू स्वयं तो महन्त रहना चाहता है और अपना दोष कर्मादिक को लगाता है, सो जिन आज्ञा माने तो ऐसी अनीति संभव नहीं है। तुझे विषय–कषायरूप ही रहना है, इसलिए झूठ बोलता है।"

उपरोक्त आगम वाक्यों से स्पष्ट है कि अपने विकार का उत्पादक कर्म को मानना तो विपरीत मान्यता है, इसप्रकार की मान्यता से अपनी विषय-कषायों की रुचि में स्वच्छन्दता का पोषण करना चाहता है। लौकिक में भी प्रचलित है कि अपराध करनेवाले का अपराध छुड़ाने के लिए सबसे पहले उससे अपराध की स्वीकृति कराई जाती है और उससे होनेवाली हानि समझाई जाती है। तब ऐसा विश्वास किया जाता है कि वह भविष्य में ऐसा अपराध नहीं करेगा। तो क्या लौकिकता से भी विपरीत, धर्मशास्त्र ऐसी आज्ञा देगा कि क्रोधादिक विकारी भाव तो स्वयं आत्मा करे और उसका जिम्मेदार कर्म को माना जावे? इसका तो अर्थ यह होगा कि आत्मा तो क्रोधादि भावों को कम-ज्यादा अथवा अभाव कर ही नहीं सकेगा? इसप्रकार तो लोक में भी बुरे भाव छोड़ने का और अच्छे भाव करने का उपदेश निरर्थक सिद्ध होगा। और जिनवाणी का उपदेश भी रागादि भावों के उत्पादन करनेवाला एवं बढ़ानेवाला सिद्ध होगा; लेकिन ऐसा होना तो असंभव है।

दूसरा इससे यह भी सिद्ध होगा कि कर्म का उदय जब-जब आवेगा, तब आत्मा को विकार करना ही पड़ेगा? तो आत्मा तो कभी भी निर्विकारी हो ही नहीं सकेगा? लेकिन ऐसा तो कभी भी उपरोक्त कथनों का अभिप्राय हो नहीं सकता? अज्ञानी को अपनी विपरीत मान्यता के कारण ऐसी आदत पड़ी हुई है कि अपराध तो स्वयं करता है; लेकिन दूसरे के सिर थोपने के लिए किसी कर्म को या नोकर्म आदि को कारण बनाकर अपने आपको निरपराधी मानता है तथा निरपराधी सिद्ध भी करता रहता है। जैसे किसी के द्वारा गाली देने पर आप तो क्रोध करता है और अपराध गाली देनेवाले का मानकर उसको अपराधी मानता है। इसीप्रकार अपनी उल्टी मान्यता दृढ़ करने के लिये शास्त्रों को पढ़कर भी उनका विपरीत अर्थ निकालता रहता है।

तब प्रश्न होता है कि उक्त कथनों का यथार्थ अभिप्राय क्या है?

उत्तर– जीव जब स्वयं विकारी भाव उत्पन्न करता है तब उस समय वह भावरूपी कार्य तो जीव ने किया, अतः यथार्थ कारण तो जीव का उस समय का परिणमन है, लेकिन उसी समय, "अन्य निमित्तरूप द्रव्य कौन था", उसका ज्ञान कराने के लिए तथा जीव की विकारी भावरूप पर्याय की जाति एवं तारतम्यता का ज्ञान कराने के लिये कर्म की प्रधानता से कथन किया गया है, जीव को कर्म के आधीन सिद्ध करने के लिये नहीं।

जीव की विकारी पर्याय का एवं कर्म का क्या संबंध है ? यह बतलाने के लिये एवं उस पर्याय का ज्ञान कराने के लिये, कर्म के माध्यम से विवेचन किया जाना अनिवार्य है आदि विषयों पर विस्तृत विवेचन सुखी होने का उपाय भाग दो में किया जावेगा।

निमित्त-नैमित्तिक शब्द द्वारा भ्रम

निमित्त-नैमित्तिक शब्द के शब्दार्थ से तो ऐसा लगता है कि नैमित्तिक कार्य में निमित्त का कुछ प्रभाव तो मानना ही चाहिए? लेकिन ऐसा भ्रम तो निर्मूल है; क्योंकि कारण, कार्य तो उपादान द्रव्य की उस समय की पर्याय है, उस पर्याय की उत्पत्ति के समय स्व और पर दोनों हैं। उपादान की मुख्यता से उस एक ही कार्य को उपादेय शब्द से कहा जाता है तथा निमित्त की मुख्यता से उस ही कार्य को नैमित्तिक शब्द से कहा जाता है। उपादेय के साथ उपादान का व्याप्य-व्यापकपना है लेकिन निमित्त के साथ व्याप्य-व्यापकता का अभाव है अतः उस कार्यरूप पर्याय में तो निमित्त का अंशमात्र भी कार्य (प्रभाव आदि) नहीं हो सकता।

इसप्रकार छहों द्रव्यों में आपस में निमित्त-नैमित्तिक संबंध अनिवार्य होते हुए भी निमित्त, अन्य द्रव्य होने के कारण, नैमित्तिक पर्यायों में किसी भी प्रकार का अंशमात्र भी असर, प्रभाव, परिवर्तन आदि कुछ भी नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों के प्रदेश भिन्न हैं एवं व्याप्य-व्यापकता का अभाव है।

संयोगीदृष्टि एवं स्वभावदृष्टि

उपरोक्त प्रकार की वस्तुव्यवस्था होने पर भी हमको ऐसा क्यों लगता है कि निमित्त से ही कार्य हो रहा है?

समाधान– इसका कारण मात्र अपनी देखने की दृष्टि की भूल ही है; क्योंकि कार्य तो एक ही हुआ है, लेकिन उसमें कारण दो कहे जाते हैं। एक तो वस्तु ने स्वयं उस कार्यरूप परिणमन किया है, अतः कार्य का वास्तविक कारण तो वह वस्तु है, जिसको आगम में उपादान कारण के नाम से कहा गया है। दूसरा कारण वह है जिसने स्वयं तो कार्यरूप परिणमन नहीं किया है, लेकिन उस कार्य की उत्पत्ति के समय ही अपने आप में परिणमन करते हुये भी उस कार्य के अनुकूल पड़ते

हुये उपस्थित है अर्थात् अनेक द्रव्यों के उस समय के परिणमन में उसका ही परिणमन उपादान रूप वस्तु के कार्य के अनुकूल पड़ रहा है। उस ही को आगम में निमित्त कारण के नाम से कहा गया है। जैसे कि पानीरूपी पुद्गल स्कंधों का ठंडी अवस्था से गरम अवस्था रूपी परिणमन तो उन पानी रूपी पुद्गल स्कंधों का ही हुआ है, अग्नि का एक अंश भी पानी में नहीं आया; लेकिन अग्नि की ज्वालारूप अवस्था की उत्पत्ति एवं पानी की गरम अवस्थारूप उत्पत्ति का काल, एक ही होता है अर्थात् एकसाथ ही होता है, इसी को आगम में एक कालप्रत्यासत्ति के नाम से संबोधित किया गया है। इसप्रकार हमको तो मात्र अकेला एक कार्य ही दिखता है, दो कारण दिखते ही नहीं हैं। साथ ही निमित्तकारण बाह्यवस्तु होने से ऐसा दिखता है कि उस कार्य की उत्पत्ति में निमित्त ने ही कार्य का निष्पादन किया है; क्योंकि हमको भी वैसा ही उत्पादन करने की इच्छा हुई थी और उस रूप किया हुआ अपना पुरुषार्थ भी दिखता है। लेकिन उस कार्य की असली उत्पादक जो वस्तु है, वह तो हमारी दृष्टि से बाहर ही रह जाती है। ऐसा दिखने का मूल कारण तो देखनेवाले की दृष्टि का दोष ही है। क्योंकि स्वभाव की मुख्यता से देखनेवाले को तो वह कार्य, उस वस्तु का परिणमन ही दिखता है। लेकिन संयोग अर्थात् निमित्त की मुख्यता से देखनेवाले को उस कार्य का उत्पादक निमित्त ही दिखता है। इसमें बुद्धिमान को स्वयं ही यह निर्णय करना पड़ेगा कि वस्तु-स्थिति क्या है, उस कार्य का असली उत्पादक कौन है? निमित्त असली उत्पादक नहीं होते हुए भी, उसको कारण कहने में क्या रहस्य है तथा मेरे को वीतरागता का उत्पादन किसको सत्य मानने में होगा आदि विषयों पर तो स्वयं को विचार करना होगा।

स्वभावदृष्टि वीतरागता की एवं संयोगीदृष्टि सरागता की उत्पादक

कार्य की उत्पत्ति उपादानकारण से ही मानने वाले की दृष्टि तो स्वाधीन एवं स्वभाव पर होती है, उसको परसंयोगों की पराधीनता नहीं दिखती, परसंयोग अर्थात् निमित्तों को जुटाने की उत्सुकता तथा अभाव का भय भी समाप्त हो जाता है। इसप्रकार आत्मा की कर्तृत्वबुद्धि छूट जाती है और आत्मा में ज्ञायकपने की श्रद्धा जागृत होने से अनंतानुबंधी के अभावपूर्वक वीतरागता की उत्पत्ति होती है, फलतः रागादि का क्रमशः अभाव होने लगता है और वीतरागता की वृद्धि होने लगती है।

निमित्त से कार्य की उत्पत्ति माननेवाले की हमेशा पराधीन दृष्टि बनी रहती है, परसंयोगों को अनुकूल करने का एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को बदल सकने का विश्वास होने से कर्तृत्वबुद्धि और भी दृढ़ होती जाती है। फलतः संयोगों (निमित्तों) को अपने अनुकूल करने एवं प्रतिकूलता हटाने के प्रयासों में ही निरन्तर दत्तचित्त रहता है, घानी के बैल की तरह २४ घण्टे लगा रहता है, फलस्वरूप उनके अनुकूल होने पर राग और प्रतिकूल होने पर द्वेष करता रहता है। वे पर-निमित्त इसके आधीन तो हैं नहीं, जो इसकी इच्छा के अनुकूल ही हो जावें? तात्पर्य यह निकला कि संयोगीदृष्टि वीतरागता की घातक एवं सरागता की ही उत्पादक है।

निमित्त आने पर ही, उपादान कार्यरूप परिणमता हुआ दिखता है

देवागम स्तोत्र की कारिका ५८ की अष्टसहस्त्री टीका में आचार्यश्री ने उपादान के दो भेद सिद्ध किये हैं। **एक तो त्रिकाली** उपादान और एक क्षणिक उपादान। लेकिन दोनों का अस्तित्व एक साथ ही हर समय रहता है। त्रिकाली उपादानगत योग्यतावाला द्रव्य ही उस

कार्यरूप परिणमन कर सकेगा। जैसे चेतन में ही जाननपनेरूपी पर्याय हो सकती है, अचेतन में नहीं। लेकिन वह चेतन जब जाननेरूप कार्य करेगा, उस समय वह क्षणिक उपादानगत योग्यता के अनुसार ही करेगा। जैसे जिस क्षणिक उपादानरूप पर्याय की योग्यता जिस समय घोड़े को जानने की है, उस समय उसमें हाथी ज्ञेय नहीं बन सकेगा। दोनों प्रकार के उपादानों का अस्तित्व एकसाथ होने पर भी कार्य की सम्पन्नता में कारणपना तो क्षणिक उपादान को ही है और उसके कार्य को उपादेय कहा जावेगा। (इस उपादेय का अर्थ "ग्रहण करने योग्य" यहाँ नहीं समझना)

उपरोक्त ज्ञानपर्याय का निमित्त घोड़ा भी, उस समय का ज्ञेय बनने के लिये नहीं परिणमा है, उसको तो यह पता भी नहीं होता कि कोई उसको जान भी रहा है। वह तो अपनी उपादानगत योग्यतानुसार किसी के ज्ञान की अपेक्षा रखे बिना, अपने आप में आप ही परिणम रहा है, कोई जाने अथवा नहीं जाने। लेकिन घोड़े में प्रमेयत्वगुण होने के कारण उसको जो कोई भी जाने उसको जानने में निमित्त अवश्य बन जाता है अर्थात् कहलाता है। लेकिन कार्य की सम्पन्नता के समय दोनों के परिणमन सहज ही कार्य के अनुकूल और अनुरूप बन जाते हैं। इसप्रकार उस कार्य के सम्पन्न करनेवाले भिन्न-भिन्न दो द्रव्य दिखने लगते हैं। ऐसी स्थिति में विवेकी पुरुष को तो अपने विवेक से उस कार्य के वास्तविक कर्त्ता को ढूंढना पड़ेगा। तब स्पष्ट ज्ञात हो जावेगा कि जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमा है, वह द्रव्य ही वास्तविक कर्त्ता है। अन्य द्रव्य जो उस कार्यरूप नहीं परिणमा है, वह वास्तविक कर्त्ता तो उस कार्य का हो ही नहीं सकता? लेकिन उस समय उपादान का कार्य उस निमित्त जैसा ही दिखता है इसकारण निमित्त को कर्त्ता कहना

तो मात्र उपचार ही है, लेकिन फिर भी उसको निमितकर्त्ता कहा गया है। वास्तव में उस कार्य का स्वामी तो वह उपादान ही है।

वस्तु स्वातंत्र्य

प्रश्न उठता है कि इसप्रकार, जानने एवं कथन करने की विसंगति की चर्चा से क्या लाभ होगा?

समाधान– उपरोक्त चर्चा मात्र चर्चा के लिए नहीं है, बल्कि वस्तु के परिणमन की स्वतंत्रता जानने का महामंत्र है। वस्तु की अपने परिणमन में पूर्ण स्वतंत्रता है। कोई कर्म, संयोग आदि उसके परिणमन को किंचित् मात्र भी प्रभावित नहीं कर सकते। इसप्रकार अपने आत्मा के स्वतंत्र परिणमन की श्रद्धा जागृत होने से दीनता एवं भय का अभाव होकर अनंत निर्भयता प्रगट हो जाती है एवं पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि प्रारंभ हो जाती है। ऐसी दृष्टि ही वीतरागता की उत्पादक है। इसप्रकार उक्त श्रद्धा द्वारा आत्मा का वीतरागतारूपी लक्ष्य की प्राप्ति का उद्देश्य सफल होता है। अतः उपरोक्त विषय को, गंभीर मंथनपूर्वक, विचार कर, दृढ़तापूर्वक निर्णय करना चाहिए।

आत्मा तो अकर्त्ता ज्ञायकस्वभावी है

वास्तव में आत्मा तो पर का अकर्त्ता, ज्ञायकस्वभावी है। ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, अतः उसके जानने का कार्य तो कभी रुक ही नहीं सकता। इसलिये आत्मा पर को जानेगा अवश्य ही, लेकिन पर का कर तो कुछ भी नहीं सकता। पर में तो आत्मा का प्रवेश ही नहीं होता। अतः पर में कुछ करना संभव भी कैसे हो सकता है। इसीप्रकार आत्मा में परद्रव्य का प्रवेश ही नहीं है, अतः परद्रव्य भी आत्मा में कुछ भी कैसे कर सकेगा? कुछ भी नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति में निमित्त रूप परद्रव्य आत्मा में कुछ भी कैसे कर देगा? कर ही नहीं सकता। ऐसा भी ज्ञान अवश्य जान लेता है। इसप्रकार निमित्त एवं उपादान दोनों

के कार्यों को, आत्मा जानता अवश्य है। दोनों द्रव्य अपने-अपने परिणमनों के कर्त्ता हैं, लेकिन आत्मा तो अपने ज्ञानरूप परिणमन का ही कर्त्ता है। पर का तो अकर्त्ता ही है। सम्यग्ज्ञान अपने आत्मा को ज्ञायक-अकर्त्ता ही जानता एवं मानता है। इसप्रकार आत्मा तो पर का अकर्त्ता-ज्ञायक स्वभावी ही है।

प्रश्न– आत्मा में जब क्रोध होता है, तब तो वह क्रोध का कर्त्ता है? इसलिए उसको मात्र ज्ञायक-अकर्त्ता स्वभावी क्यों कहना चाहिए?

समाधान– ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है, अतः ज्ञान का परिणमन (कार्य) तो कभी रुकता नहीं; क्रोध की उत्पत्ति के समय भी क्रोध उत्पन्न हुआ– ऐसा ज्ञान भी तो आत्मा को ही हुआ। क्रोध तो आत्मा का विभाव है, अगर वह स्वभाव होता तो ज्ञान की तरह उसको भी निरंतर आत्मा के साथ रहना चाहिए था। आत्मा में जब क्रोध नहीं था, उसका ज्ञान एवं क्रोध उत्पन्न हो गया उसका ज्ञान तथा वह समाप्त हो गया उसका भी ज्ञान, आत्मा को ही होता है। इससे सिद्ध होता है कि वास्तव में तो क्रोध के काल में भी आत्मा तो क्रोध का कर्त्ता नहीं था, वरन् क्रोध की सब अवस्थाओं के समय भी वह तो उनका ज्ञाता ही था। इससे भी आत्मा क्रोध एवं पर का तो अकर्त्ता—ज्ञायकस्वभावी ही सिद्ध हुआ।

अतः आत्मा तो मात्र ज्ञायक—अकर्त्तास्वभावी ही है। पर का हो अथवा अपने ही भावों का हो, आत्मा तो सबका अकर्त्ता/ज्ञायक ही है।

प्रश्न– उपरोक्त सब जान लेने से लाभ क्या होगा?

समाधान– सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि अपने एक ज्ञान परिणमन के अतिरिक्त अन्य सभी परिणमनों के प्रति उपेक्षाबुद्धि प्रगट

हो जावेगी। मात्र एक ज्ञायक के प्रति अपेक्षाबुद्धिपूर्वक, पर के प्रति उपेक्षाबुद्धि ही वीतरागता की जननी है। यही मोक्षमार्ग है। अतः उपरोक्त श्रद्धा ही दृढ़तापूर्वक करने योग्य है।

रागादि उत्पन्न कैसे होते हैं?

प्रश्न– आत्मा तो मात्र ज्ञानपर्याय का कर्त्ता है और पुद्गल अपनी अचेतनपर्याय का कर्त्ता है, पुद्गल कर्म का उदय जो निमित्त है, वह रागादि को करता नहीं है, तब फिर आत्मा में रागादि उत्पन्न कैसे हो जाते हैं?

इस प्रश्न का समाधान समयसार गाथा ३७०-३७१ की टीका के अंत में स्वयं प्रश्न उठाकर आचार्यश्री ने उत्तर दिया है, वह निम्नप्रकार है–

प्रश्न– तब फिर राग की खान (उत्पत्ति स्थान) कौन-सी है?

उत्तर– राग-द्वेष-मोहादि, जीव के अज्ञानमय परिणाम हैं, अर्थात् जीव का अज्ञान ही रागादि को उत्पन्न करने की खान है, इसलिये वे राग-द्वेष-मोहादिक विषयों में नहीं है, क्योंकि विषय परद्रव्य है और वे सम्यग्दृष्टि में भी नहीं है, क्योंकि उनके अज्ञान का अभाव है।"

प्रश्न होता है कि यह अज्ञान क्यों उत्पन्न होता है?

उसके स्पष्टीकरणरूप उक्त ग्रन्थ की गाथा ३४४ की टीका में आचार्यश्री ने निम्नानुसार कहा है–

"इसलिये ज्ञायकभाव सामान्य-अपेक्षा ज्ञानस्वभाव से अवस्थित होने पर भी, कर्म से उत्पन्न होते हुए मिथ्यात्वादि भावों के ज्ञान के समय, अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान से शून्य होने से, पर को आत्मा के रूप में जानता हुआ वह (ज्ञायक भाव)

विशेष– अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञान परिणाम को करता है। (अज्ञानरूप ऐसा जो ज्ञान का परिणमन उसको करता है) "

इसी का समर्थन कलश १६४ में निम्नप्रकार किया है–

"*श्लोकार्थ*– कर्मबन्ध को करनेवाला कारण न तो बहुकर्मयोग्य पुद्गलों से भरा हुआ लोक है, न चलनस्वरूप कर्म (अर्थात् मन-वचन- काय की क्रियारूप) योग है, न अनेक प्रकार के करण हैं और न चेतन - अचेतन का घात है। किन्तु 'उपयोगभू' अर्थात् आत्मा रागादि के साथ जो ऐक्य को प्राप्त होता है (वही एकमात्र) मात्र रागादिक के साथ एकत्व प्राप्त करना, वही वास्तव में पुरुषों के बंध का कारण है।"

उपरोक्त कथनों से भी यह स्पष्ट होता है कि आत्मा ज्ञायकस्वभावी है। स्वतंत्रतापूर्वक अपनी ज्ञानपर्याय को करता है, लेकिन कर्मोदय को जानते ही उनमें एकत्व मानकर , अज्ञानी होकर स्वयं ही रागादि उत्पन्न कर लेता है। कलश १६७ की टीका में भी यही कहा है–

टीका– वास्तव में अज्ञानमयभाव में से जो कोई भी भाव होता है वह सब ही अज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ अज्ञानमय, ही होता है, इसलिये अज्ञानियों के सभी भाव अज्ञानमय ही होते हैं। और ज्ञानमयभाव में से जो कोई भी भाव होता है, वह सब ही ज्ञानमयता का उल्लंघन न करता हुआ ज्ञानमय ही होता है; इसलिये ज्ञानियों के सब ही भाव ज्ञानमय होते हैं।"

—इसप्रकार ज्ञानी अथवा अज्ञानी दोनों आत्मा, अपनी वीतरागी अथवा रागी पर्याय को स्वतंत्ररूप से करते हैं, कोई कर्म नोकर्म अथवा निमित्त आदि नहीं कराता।

उपसंहार

उपरोक्त सभी प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अर्थात् द्रव्य अपने-अपने परिणमनों को, स्वतंत्रतापूर्वक करती रहती है। वस्तुस्वातंत्र्य के मूलभूत सिद्धान्त "सत् द्रव्यलक्षणं" "उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्" का ही समर्थन करनेवाले, अनेक प्रमाणों के माध्यम से भी वस्तु के परिणमन की स्वतंत्रता ही सिद्ध होती है।

वस्तुस्वातंत्र्य को सिद्ध करनेवाले अन्य सिद्धान्त जैसे– (१) स्वचतुष्टय में परचतुष्टय की नास्ति (२) कार्य की सम्पन्नता के समय, बिना जुटाये, सहजरूप से प्राप्त, पाँच समवायों का समवायीकरण होना। (३) त्रिकाली–उपादान अपनी क्षणिक–उपादान रूप योग्यता के अनुसार कार्यरूप परिणमन को प्राप्त होता है, उस समय निमित्तरूप परद्रव्य का कोई अंश भी उस कार्य में सहयोगी नहीं होते हुये भी उपादान के कार्य का निमित्त भी व्यवहार से कहा जाता है तथा उसकी उपस्थिति की अनिवार्यता होने से उपचार से उसे कर्त्ता भी कह दिया जाता है। (४) वस्तु के परिणमन की निश्चितता, व्यवस्थितता, केवली भगवान के ज्ञान द्वारा भी सिद्ध है, उससे भी वस्तु की स्वतंत्रता ही सिद्ध होती है।

उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त , निम्न स्वतंत्रता द्योतक आगम वाक्यों के आधार से भी सिद्ध होता है कि जीवद्रव्य में होनेवाले विकारी–निर्विकारी परिणमन के समय निमित्त के रहते हुये भी स्वयं जीव ही षट्कारकरूप से स्वतंत्रतापूर्वक परिणमन करता है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ की टीका के भावार्थ में कहा है कि–

"इसप्रकार पुद्गल को कर्मोदयादिरूप से या कर्मबंधादिरूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में पुद्गल ही स्वयमेव छह

कारक रूप से वर्तता है, इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है तथा जीव की औदयिकादिभाव रूप से परिणमित होने की क्रिया में वास्तव में जीव स्वयं ही छह कारकरूप से वर्तता है, इसलिये उसे अन्य कारकों की अपेक्षा नहीं है। पुद्गलिक क्रिया में वर्तते हुए पुद्गल के छह कारक जीवकारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष हैं तथा जीवभावरूप क्रिया में वर्तते हुए जीव के छह कारक पुद्गल कारकों से बिल्कुल भिन्न और निरपेक्ष है। वास्तव में किसी द्रव्य के कारकों को किसी अन्य द्रव्य के कारकों की अपेक्षा नहीं होती।"

इसीप्रकार प्रवचनसार की गाथा १८९ की टीका में भी अपने विकारी भाव का जीव निश्चय से कर्ता निम्नप्रकार बताया है,

"रागादि परिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पापरूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्त्ता है, उसी का ग्रहण करनेवाला है और उसी का त्याग करनेवाला है – यह शुद्धद्रव्य निरूपणस्वरूप निश्चयनय है।"

समयसार गाथा २८७ की टीका के भावार्थ में निर्विकारीपर्याय का भी षट्कारकरूप से आत्मा ही कर्त्ता है, ऐसा कहा है–

"प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं, इसलिये (अभिन्न छह कारकों से) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिये ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ' क्योंकि चेतना ही आत्मा की एक क्रिया है।"

उपरोक्त सभी आधारों से वस्तु के परिणमनों की स्वतंत्रता सिद्ध होती है। अत: इसप्रकार की श्रद्धा उत्पन्न होने से आत्मा का अकर्त्ता-ज्ञायकस्वभावीपना सिद्ध होता है। आत्मा को अकर्त्ता/ज्ञायकस्वभावी

स्वीकार करने से, ज्ञेयमात्र के प्रति उपेक्षा–बुद्धि प्रगट होकर, वीतरागी परिणति प्रगट हो जाती है एवं मोक्षमार्ग प्राप्त हो जाता है। यह ही आत्मा का मूल प्रयोजन है।

सभी जीव उपरोक्त सिद्धान्तों को हृदयंगम कर मोक्षमार्ग को प्राप्त करें– इस भावना के साथ विराम लेता हूँ।

*